डॉ. दीपक सिंह

वर्तमान में राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अम्बिकापुर में सहायक प्राध्यापक हिन्दी के पद पर कार्यरत हैं। शुरुआती शिक्षा गांव से लेने के बाद उन्होंने स्नातक से लेकर पीएचडी तक की अपनी पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय से की है। अध्ययन-अध्यापन में गहरी रुचि।

डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अंबिकापुर में हिंदी के असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। प्रारंभिक शिक्षा गांव और रीवा से। आगे की पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय से। जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली से पीएचडी की उपाधि। आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं पर कई शोध आलेख प्रकाशित। आदिवासी जीवन और संस्कृति पर गंभीर अध्येता की छवि।

मूल्य : ₹ 350/-

ISBN 978-81-19335-59-6

9 788119 335596

आवरण : शीतल श्रीवास्तव

रुद्रादित्य प्रकाशन
190 एच/आर/3-एन, ओ.पी.एस. नगर, कालिन्दीपुरम,
प्रयागराज (उ.प्र.) पिन-211011 फोन 8187937731

साहित्य और पर्यावरण

डॉ. दीपक सिंह | डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

साहित्य और पर्यावरण

संपादक
डॉ. दीपक सिंह
डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

साहित्य और पर्यावरण

सम्पादक
डॉ. दीपक सिंह
डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

रुद्रादित्य प्रकाशन
प्रयागराज

ISBN : **978-81-19335-59-6**

RUDRADITYA PRAKASHAN
109, H/R/3-N, O.P.S. Nagar,
Kalindipuram, Prayagraj—211011
Mobille : 8187937731, 8175030339
Email : rudraditya00@gmail.com

Branch : Kaushambi Road, Jhalwa, Prayagraj

Edition : 2023

Price : ₹ 450.00

© Writer

Type Setting : Rudraditya Prakashan D.T.P. Unit

Cover Design : Raj Bhagat

Bhargava Printer

साहित्य और पर्यावरण

भूमिका

प्रकृति से मनुष्य का संबंध द्वंद्वात्मक रहा है। प्रकृति से संघर्ष और उसके संरक्षण के बीच ही मनुष्य ने साहित्य, संगीत व विविध कलाओं का सृजन किया है। लहरों, झरनों, पक्षियों के कलरव के बिना क्या किसी संगीत की कल्पना की जा सकती है? इसी तरह चित्रकला हो या वास्तुकला अथवा भौगोलिक-वैज्ञानिक अनुसन्धान, प्रकृति सबकी मूलाधार रही है। अपनी अस्तित्व रक्षा हेतु एक तरफ हमने प्रकृति से संघर्ष किया तो वहीं दूसरी ओर देवता की तरह उसकी पूजा कर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की। आज प्रकृति से हमारा यह संबंध विछिन्न हो चुका है।

बीसवीं सदी विकास और पर्यावरण संरक्षण के अंतर्द्वंद्व से संचालित रही है। दुनिया के तमाम विकसित और विकासशील देशों ने आर्थिक उन्नति प्राप्त करने के नाम पर विकास के ऐसे मॉडल को अपनाया जिसमें पर्यावरण का विनाश अनिवार्य था। विकास की इस अवधारणा ने वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों और आम जनमानस की चिंताओं को विकास विरोधी बताकर हाशिये पर डाल दिया है। आज जहाँ हम खड़े हैं वहाँ प्रकृति का अतिशय दोहन प्राणिमात्र का संकट बन चुका है। तमाम जीव-जंतु विलुप्त हो चुके हैं या विलुप्ति के कगार पर हैं। प्रकृति का अपना सफाई कर्मी गिद्ध धरती से गायब हो चुका है। ऋतुक्रम में अनियमितता सामान्य बात हो चुकी है। संसार की अधिकांश नदियों की जैव विविधता, जल की निर्मलता अनियंत्रित विकास की भेंट चढ़ चुकी है। भारत में गंगा नदी इसका ज्वलंत उदहारण है। जब कोई नदी मरती है तो सिर्फ नदी नहीं मरती उसके साथ एक सभ्यता मरती है। बोल्गा से गंगा तक हो या नील से अमेजन तक मनुष्य के फलने-फूलने का इतिहास नदियों से जुड़ा हुआ है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बड़े पैमाने पर साहित्य का लोकतंत्रीकरण हुआ है। स्त्री, दलित, आदिवासी जैसे हाशिये के स्वरों ने साहित्य में अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज की है। पर्यावरणीय दृष्टि से देखा जाय तो आदिवासी साहित्य ने (आदिवासियों और गैर आदिवासियों द्वारा लिखित) जल-जंगल-जमीन को प्राणिमात्र के अस्तित्व के साथ जोड़कर देखे जाने की व्यापक दृष्टि साहित्य को प्रदान की है। आदिवासी जीवन दर्शन प्रकृति और मनुष्य के बीच संतुलन का शानदार उदहारण प्रस्तुत करता है वह प्रकृति से सिर्फ आवश्यकता भर ग्रहण करने का हिमायती है। प्रकृति उसके स्व में निहित है, वह किसी भी तरह प्रकृति को अन्य नहीं मनाता और न ही मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता का पक्षधर है। प्राचीन भारतीय वांग्मय में भी पृथ्वी को माता कह कर उसे चेतन स्वरूप में स्वीकार किया गया है। रवीन्द्र नाथ टैगोर का गीत 'अमार सोनार बांग्ला' प्रकृति के चेतनामय स्वरूप की विराट अभियक्ति है। लालच की सभ्यता ने मनुष्य और प्रकृति के सहयोगी रिश्ते को छिन्न-भिन्न कर मानवता के समक्ष अभूतपूर्व संकट खड़ा कर दिया

है। बीसवीं शदी के तीसरे दशक में ही जयशंकर प्रसाद ने अपनी कालजयी कृति कामायनी के माध्यम से समूची मानवजाति को भोग और विलास की संस्कृति के खतरे के खिलाफ चेतावनी देते हुए प्राकृतिक जीवन-दर्शन की रूप-रेखा हमारे सामने प्रस्तुत की थी लेकिन हमारी सत्ता संरचना ने उसका संज्ञान नहीं लिया—

बधी महावट से नौका थी, सूखे में अब पड़ी रही
उतर चला था वह जल-प्लावन, और निकलने लगी मही
निकल रही थी मर्म वेदना करुण विकल कहानी सी,
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी पहचानी सी !

अतिशय भोग और लालसा ने ही देव सभ्यता का विनाश किया था। यह त्रासदी ही कही जाएगी कि हमने कामायनी जैसी बौद्धिक उपलब्धि से कुछ नहीं सीखा। साथ ही गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित आर्थिक ढांचे और लालच की संस्कृति से बचने के प्रस्ताव को भी विकास के रास्ते में बाधा के रूप में देखा गया। स्थिति यहाँ तक आ पहुंची है कि न हवा साफ बची है न पानी। हमारे पूर्वजों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि एक दिन ऐसा भी आयेगा जब पानी, हवा, बाजार से खरीदे जायेंगे। विकास की तमाम ऊँचाइयाँ लांघ कर भी हम एक तितली का जीवन संरक्षित कर पाने में नाकाम हैं। आज पर्यावरण का जो संकट हमारे सामने खड़ा है वह अतिशय भोग और लालसा की ही उपज है।

प्रकृति से साहित्य का सम्बन्ध हवा-पानी की तरह है। पूरी दुनिया की लोक कथाओं, गीतों और प्रर्थानाओं में प्रकृति विविध रूप में अभिव्यक्त हुई है। प्रकृति की शक्ति, सौन्दर्य गान से शुरू हुई यह यात्रा आज पर्यावरण संकट से रूबरू है। एक युद्ध जैसी स्थिति हर समय हमारे समक्ष बनी हुई है। 'नई कॉलोनी' कविता में दिनेश कुमार शुक्ल लिखते हैं—

'अरावली पर्वतमाला फिर हार मानकर
आज और कुछ ज़्यादा पीछे खिसक गयी है
भय से आँखें बन्द किये मैं देख रहा हूँ
इन्द्रप्रस्थ के पास खांडव-वन को खाता
छिड़ा हुआ इक घमासान है–
जिसमें धरती हार रही है'

धरती की हार प्राणी-मात्र की हार होगी। धरती के संघर्ष में हम सभी को भागीदार बनना होगा और लौटना होगा प्रकृति की ओर। प्रस्तुत पुस्तक 16-17 मार्च 2023 को राजीवगांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अंबिकापुर में 'साहित्य और पर्यावरण' विषय पर आयोजित अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में पढ़े गए पर्चों का संकलन है। उम्मीद है कि पुस्तकाकार रूप में यह पर्यावरणीय सरोकारों को बढाने और हिन्दी क्षेत्र में एक सार्थक बहस को संचालित करने में मददगार होगी।

●●●

अनुक्रम

भूमिका **5**

1. आदिवासी साहित्य और प्रकृति का सह-अस्तित्व —डॉ. विश्वासी एक्का 9
2. मनुष्य का जीवन और पारिस्थितिकी तंत्र —नीलाभ कुमार 15
3. समकालीन साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन —डॉ. के. आशा 22
4. लोक गीतों में प्रकृति के विविध रूप —अजय कुमार तिवारी 26
5. डॉ. श्यामसुन्दर दुबे के साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन —जीतन राम पैकरा 34
6. केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्रकृति एवं खेती-किसानी —डॉ. बृजेश कुमार पाण्डेय 45
7. Climate Change and Water Crisis in Eco-films *Kadvi Hawa* and *Turtle* —Dr. Bhanupriya Rohila 51
8. Ecocritical Reading of Literature : Understanding the Silencing of Nature —Dr. R.P. Singh 60
9. टिकाऊ कृषि तंत्र एवं स्मार्ट कृषि-एक सैद्धांतिक विश्लेषण —डॉ. अनिल कुमार सिन्हा, दीपिका स्वर्णकार 68
10. पर्यावरण व पारिस्थितिकी का स्वरूप एवं अंतःसंबंध —वी सुगुणा 81
11. राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति —कमल किशोर कश्यप 88
12. साहित्य में पर्यावरण संरक्षण एवं संचेतना : एस आर हरनोट —संजीव कुमार मौर्य 92
13. पर्यावरण व गहन पारिस्थितिकी : गाँधी एवं अंबेडकर की नजर से —गोपाल 104
14. बोधकथा साहित्य एवं पर्यावरण चिंतन —सुशील कुमार तिवारी 112
15. यह नरम-हरा-कच्चा संसार —ऋचा वर्मा 122
16. मानव और प्रकृति का अंतर्संबंध तथा समकालीन हिंदी उपन्यास —प्रियंका जायसवाल, डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय 129
17. हिंदी उपन्यासों में व्यक्त पर्यावरणीय प्रदूषण एवं खतरे —अक्षतानंद पाण्डेय 135
18. प्राकृतिक संसाधन का दोहन और पर्यावरणीय संकट —डॉ. क्रेसेन्सिया टोप्पो, डॉ. सुशील कुमार टोप्पो 142
19. पर्यावरण संरक्षण : हड़प्पा और वैदिक सभ्यता —डॉ. अजय पाल सिंह 147
20. आदिवासी साहित्य में जल-जंगल और जमीन का संघर्ष —डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो 150
21. कालिदास के साहित्य में पर्यावरण रक्षा के उपाय —राजीव कुमार 157

22. फाँस उपन्यास में अभिव्यक्त पर्यावरण संकट और किसान जीवन —श्रीमती स्नेहलता खलखो, डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय 163
23. महाकवि कालिदास के काव्यों में प्रकृति का स्वरूप —महेश कुमार अलेंद्र 170
24. आदिवासी कविता में पर्यावरण चिंतन —मनोरमा पाण्डेय 181
25. छत्तीसगढ़ी उपन्यास 'पखरा ले उठे आगी' में व्यक्त प्रकृति और संस्कृति का समन्वय —डॉ. (श्रीमती) अलका पंत, श्रीमती वंदना रानी खाख़ा. 189
26. हिंदी साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण : विजय राठौर के काव्य के संदर्भ में —गोवर्धन प्रसाद सूर्यवंशी, डॉ. पुनीत कुमार राय 197
27. ऋषि दयानंद के साहित्य में पर्यावरण चिंतन —डॉ. अजय आर्य 208
28. भारत में पूँजीवाद और जलवायु संकट —धवल गुप्ता 214
29. पर्यावरण एवं राजनीतिक चिंतन —मुकेश कुमार सिंह 220
30. प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन —डॉ. कमलेश दुबे 225
31. आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में प्रकृति —कसीरा जहाँ 234
32. छायावादीयों कवियों के काव्य में प्रकृति चित्रण-निराला के संदर्भ में —शिवशंकर राजवाड़े 243
33. सत्यभामा आडिल की आधुनिक कविताओं में प्रकृति —सीमा मिश्रा 250
34. पर्यावरण संरक्षण में समकालीन हिन्दी साहित्य एवं मीडिया की भूमिका —रश्मि पाण्डेय 254
35. आधुनिक काल में प्रकृति —प्रियंका मिश्रा 260
36. मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में प्रकृति —अफीफा फातिमा शेक, डॉ. पूर्णिमा श्रीनिवासन 270
37. डॉ. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' का रचना संसार और प्रकृति के विविध रंग —श्रीमती संगीता शर्मा 275
38. प्रेमचंद की कहानियों में प्रकृति वर्णन—सतीश कुमार धीवर 287
39. आदिवासी साहित्य में जल, जंगल और जमीन का संघर्ष —कल्पना सिदार 293
40. अज्ञेय के काव्य में प्रकृति —ज्योति कमल 299
41. मंगलेश डबराल की कविताओं में जल, जंगल और ज़मीन —श्रीमती रामेश्वरी दास 306
42. गांधीवादी दर्शन और पर्यावरण संरक्षण —श्रीमती निशा शर्मा 314
43. तुलसीदास के काव्य में प्रकृति चित्रण —नेहा विश्वकर्मा 319
44. Ecopoetry and Sustainable Development —Dr. Nidhi Mishra 324
45. Conservation of some Medicinal Plants in Balrampur, C.G. —Laxmi Singh 330
46. पर्यावरण असंतुलन : 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास के सन्दर्भ में —लक्ष्मी के. एस. 337

●●●

आदिवासी साहित्य और प्रकृति का सह-अस्तित्व

डॉ. विश्वासी एक्का

सहायक प्राध्यापक-हिन्दी

राजमोहिनी देवी कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अम्बिकापुर

आदिवासी लेखन, उल्लास और प्रतिरोध के साहित्य के साथ-साथ प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का भी साहित्य है। आदिवासी साहित्य लेखन में गैर आदिवासी समाज से संबंध रखने वाले साहित्यकार हैं तो आदिवासी समाज से आनेवाले साहित्यकार भी साहित्य सृजन कर रहे हैं। दूसरे वर्ग से आनेवाले साहित्यकारों की कृतियां इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उसमें विषय वस्तु की गहरी समझ दिखाई देती है जिससे पाठकों में विश्वास पुख्ता होता है। पाठकीय रुचि जागृत होती है। मानव ही नहीं मानवेतर जगत से सहअस्तित्व ही जीवन का आधार है यह आदिवासी साहित्यकार समझता है। अतः उनके साहित्य में सह-अस्तित्व का भाव दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य आदिवासी साहित्य में मानव और प्रकृति के सहजीविता की पहचान के साथ सम्पूर्ण मानव जाति में सह-अस्तित्व की भावना का विकास करना है। उनमें प्रकृति के संरक्षण और संवर्धन का भाव जागृत करना है। मानव और मानवेतर जगत की पारस्परिकता से ही जीवन का विकास होता है।

प्रकृति के साथ छेड़छाड़, घटते जंगल, प्रदूषित होती नदियाँ, विलुप्त होती जीव प्रजातियां, जलवायु परिवर्तन केवल आदिवासियों के अस्तित्व का संकट नहीं वरन सम्पूर्ण मानवता और मानवेतर प्राणी जगत के लिए भी खतरा है। आदिवासी साहित्य इस खतरे की बात करता है, उसकी चिंता प्रकृति को अपने वास्तविक रूप में बनाये रखने की है, यह तभी संभव होगा जब मानव और मानवेतर जगत के बीच सहअस्तित्व का भाव हो।

आदिवासी जनजीवन पर केन्द्रित साहित्य एक विशिष्ट साहित्य है, उसकी एक विशिष्ट पहचान ही साहित्य की विभिन्न विधाओं को रूपायित कर रहा है। अलिखित वाचिक परम्परा को स्रोत बनाये हुए आदिवासी साहित्यकारों ने साहित्य लेखन की शुरूआत की।

Ecocritical Reading of Literature : Understanding the Silencing of Nature

Dr. R. P. Singh
Asstt Professor of English
RGG PG College,Ambikapur
Distt—Surguja (Chhattisgarh)

Abstract

The starting premise of this article is that the mere resource-status of the non-human nature is the consequence of its being silenced by the anthropocentric discourse centred on the idea that Man is the only 'speaker'. An attempt will be made here to map this discourse in terms of two interlinked discursive stages of Medieval exegesis and Renaissance humanism. It will be argued that the dominance of the humanist insistence on the human being the sole entity possessing articulate subject status still continues despite more than one set of evidences.

If one takes Rachel Carson's *Silent Spring* (1962) as the first 'earth-conscious' literary text, the time-distance the environmental ethics movement in art and literature, popularly known as ecocriticism, has travelled till now comes to a little over six decades. This period has produced a vast corpus of critical texts whose reading renders one safe to say that ecocriticism can be viewed as an ecological outgrowth of post-structural literary criticism. To take the simplest possible analogy, just as the feminist reading of literature examines texts from gender-conscious perspectives,ecocritics read them from earth-centred approaches. Starting from the 'power-political 'premise

that language reveals as well as conceals in the interest of serving certain discursive power-structures created and sustained by the socio-culturally privileged strata of the society, what post-structuralism has done for the human *others* like women, ethnic minorities, principled non-conformists of all kinds, ecocriticism does for the earth, or the natural world, treating it as another silenced *other* in our technological society. The silencing of nature by the privileged discourses of human civilization and progress is a loud cry heard in reading literature from an ecocritical perspective. Christopher Manes writes for the entire human world caught in the uni-directional competitive race of more and more commerce for more and more material human advancement,

'Nature is silent in our culture (and in literate societies in general) in the sense that the status of a speaking subject is jealously guarded as an exclusively human prerogative. …The language we speak today, the idiom of Renaissance and Enlightenment Humanism, veils the processes of nature with its own cultural obsessions,directionalities,and motifs that have no analogies in the natural world'. (Manes 15. Significantly, the parenthetical observation about the whole progress-conscious human world is in the original).

What if not silenced?

There are no two opinions about the identity of the silencing agent. It is the human beings. The question is: is there any discursive trajectory along which this silencing of nature can be understood with clarity, so as to strengthen the argument behind environmental ethics which undergirds ecocritical reading of literary texts? The answer is yes. This article will try to map that trajectory. But before going for that mapping it would be relevantly worthwhile to justify in brief why an understanding of the silence of nature, which is the result of its discursive silencing by man, is important. It is important because, in general sociological terms of power and powerlessness, one who speaks is not liable to be exploited. Hans Peter Duerr extrapolates this idea into the field of concern for conservation of nature and writes

in his *Dreamtime: Concerning the Boundary between Wilderness and Civilization*…. 'people do not exploit a nature that speaks' (Duerr 92).In the post-Foucault intellectual world it is a matter of general acceptance that social power operates through discourses. It is the discourses which give voice to someone/something or silences someone/something.It is they which make an entity a speaker or turns it mute. The network of privileged speakers identified throughout history as priests and kings,authors,intellectuals and celebrities has guided and controlled the socio-cultural behaviours of people who take their words seriously as opposed to the discourse of 'meaningless' and silenced entities like women,minorities,children,prisoners and the insane. The consequence of this practice of discourse and its acceptance-in-action has been that moral consideration regarding what to do and what not to do seems to fall only within a circle of speakers in communication with one another. This paradigm of the power of voice and the powerlessness of the voiceless has clear implications in the field of the concern for ecological disaster as pointed in Duerr's sentence-fragment quoted above. Speaking nature is not exploited because it is regarded alive and articulate. This 'regard' has implications as well as consequences in the realm of social practices of the humans. It determines what is nature, and conditions what is true knowledge about nature. As a natural corollary, it prescribes norms about how individuals and social institutions have to interact with nature in their search for the fulfillment of their various material needs. A confirmation of this fact comes from the observation of the state of the health of nature found in animistic societies where nature has not been silenced. The perspective of animism about nature which undergirds the day-to-day life in many contemporary societies is grounded in a set of beliefs that all the phenomenal world is alive in the sense that the spirit of life flows through everything including humans, natural entities, cultural artefacts; and that the non -human world is not just alive but is imbued with forces of articulation able to communicate with the human

beings. The result for all to see of these beliefs is that the animistic societies have, almost without exception, avoided the kind of environmental destruction that is the fate of the societies controlled by the Ideology of Man as the sole soliloquoist,where the humanistic-materialistic ideologies of reason and progress render the nonhuman world silent and voiceless.

Genealogy of the discourse of silencing nature

The Medieval Exegesis

The justification of humanity's domination of nature can be understood as a historical process of the successive erosion of the animistic attitude and approach toward nature. In a broad way, the temporal point of beginning of this process has been located in the medieval age style of interpretation of the Biblical texts, which came to be called as exegesis. In this exegetical view all the entities in the universe existed and should be understood in a three-levelled structure of the meaning of their existence --- the *littera* (the literal or the mundane),*moralis* (morally true), and *anagogue* (having a divine purpose which is beyond the common human intellect). In sum, exegesis established God as a transcendental subject speaking through natural entities which, like words on a page, had symbolic meanings without having any autonomous voice of their own. A commentator on environmental issues has succinctly simplified this view, and he needs to be quoted at some length,

According to medieval commentators, eagles soared higher than any other bird and could gaze upon the sun,undazzled,because they were put on Earth to be a symbol of St. John and his apocalyptic vision, not the other way round. From this hermeneutical perspective, it was inconceivable that eagles should be autonomous, self-willed subjects, flying high for their own purposes without reference to some celestial intention, which generally had to do with man's redemption. Exegesis swept all things into the net of divine meaning (Mane: 19).

The modern empiricism-loving thought has declared this view as unscientific and mystical, but what is important to note here is the fact that the mental legacy of this medieval exegetical view still continues as operative in another garb. The main point to consider is the search for 'transcendental' meanings or concerns behind natural entities. The modern scientific mind has replaced the search for divine meanings with the concern for finding out and establishing the evolutionary *telos* of humanity. Michel Foucault, in his *The Order of Things: An Archaeology of the Human Sciences*, calls this search 'the return of exegesis'. To repeat a little, for the medieval exegetical commentators God was the above-and-beyond hidden power speaking through natural entities, while the modern scientific aim of discerning the human being as the final point of zoological evolution seeks to establish scientific reason as a discourse the modern human society speaks with civilized pride.

It may sound as too sweeping an account of the medieval understanding about man's relationship with nature, and claim that every man and woman of the Middle Ages believed in it. But this much cannot be denied that for the Church and aristocracy, the institutions that dominated discourse of the time, the world of natural phenomena and entities was a symbol and source for the expression of God's orderliness and glory. This idea gave birth to its kindred cosmological model of the *scala naturae* or the Great Chain of Being. This model fixed the hierarchical positions of all lower and higher species of zoological forms in the chain of being with humankind's place higher than beasts and less than the angels; and then closed the door. As Arthur O. Lovejoy, in his *The Great Chain of Being: A Study of the History of an Idea*, quotes Thomas Aquinas praising the diverse multitude of species as 'a greater addition to the good of the universe than the multiplication of individuals of a single species', one can assume that at least in the Medieval monastic surroundings the concept of

scala naturae might have worked as a kind of theological restraint against abusing the natural world (Lovejoy 77).

The Renaissance Humanism

Renaissance inherited the idea of the Great Chain of Being from the Medieval exegetical commentators and added to it a new configuration of thought which later came to be called Humanism. From its original form as a curriculum with an emphasis on classical learning it ended up emphasizing a faith in human reason, progress and intellect that would become the pillar of modern technological culture in the post-enlightenment intellectual ethos which today rules modern mind in one way or the other. Humanism interpreted the humankind's position in the Chain of Being --- between the 'dumb' beasts and the speaking-articulate angels --- as the irrefutable confirmation of the ontological difference between the *homo sapiens* and the rest of biosphere. The direct discursive consequence of this insistence on the ontological difference was that rational thinking and discourse became the exclusive human faculty which the animals could not be thought to possess. Man became in Shakespeare's Hamlet's words (in act 2, scene 2 of the great eponymous tragedy) 'the beauty of the world! the paragon of animals!' It is notable that Shakespeare seems to be aware of the absurdity of this effusive claim about man's all-round lordship as he immediately follows this statement with the same Hamlet saying 'man delights not me: no, nor woman neither'. Francis Bacon had no qualm in expressing his view about the teleologically final destiny of mankind. At about the same time *Hamlet* was written he announced, 'Man, if we look to final causes, may be regarded as the centre of the world; inasmuch that if man were taken away from the world, the rest would seem to be all astray, without aim or purpose ….' (Ellis and Spedding 747).

The continuing dominance of Renaissance Humanism despite science and Deep Ecology

The subsequent advancement of scientific revolution has definitely dimmed the 'celestial' shine of the blunt literal truth of the superiority of Man as per the hierarchical positioning in the Chain of Being, but its mental-cultural residue still haunts our human and social sciences. The biological sciences do not recognize the humans as the 'goal' of evolution. For them we are no more than tyrannosaurs were during their period of sojourn on earth. The process of natural selection and the ability of biological adaptation have not exclusively favoured mankind. From the evolutionary perspective, there is nothing like 'higher' or 'lower' being. Elephants and earwigs and cabbages and kings have the same status. Scientific inquiry invites the intelligent human culture to come face to face with the fact that the observation and study of nature have not yet yielded any scrap of evidence that humans are superior to non-human beings. This fact of life and nature directly contradicts the idea of *scala naturae* and its use in humanist discourse. The environmental philosophy of Deep Ecology, which originated in the decade of 1970s from the writings of the Norwegian philosopher Arne Naess, takes inspiration from this very scientific position about zero-difference between the humans and the non-human natural world in evolutionary terms.Naess coined the term deep ecology to argue against what he called the shallow anthropomorphic environmentalism which concerns itself with conservation of the environment only for its exploitation by and for human material progress. Significantly , he hailed the publication of Rachel Carson's *Silent Spring* in 1962 as the beginning of the deep ecology movement as it sought to convincingly 'pull' the pesticide-using technology-driven modern industrial society from the anthropocentric view of nature, and take it toward the earth-centric one.Naess combines his ecological vision of the natural world as a complex web of inter-dependent relationships among organisms with Gandhian non-violence, and argues that non-essential exploitative interference with the natural world poses a threat not only to humans but to all organic beings constituting the natural order. All living beings are inherently worthy regardless of their instrumental utility to human needs.

But the traditional humanists are not yet willing to leave the field of environmental debate. Explicit or implicit references to the correctness and validity of the idea of *scala naturae* are still seen in the environmental discourse with an emphasis on the need to affirm the special subject status of Man. We come across ideas like the humans possessing a 'second nature' (culture) which gives them the right and the duty to deal with the 'first nature' (the non-human world) in a way they think it is rational. Who doesn't know that 'rational' dealing with nature through history has been just another name for altering, shaping and controlling the non-human world treating it as source of various resources? A noted modern humanist eco-philosopher writes with unshaken confidence, 'We are here … to maintain, to creatively transform, and to carry on the torch of evolution.(Skolimowski 68).

Works Cited

Duerr,Hans Peter. *Dreamtime: Concerning the Boundary Between Wilderness and Civilization*.Basil Blackwell, 1985

Ellis,Robert Leslie and James Spedding. *The Philosophical Works of Francis Bacon*. Books for Library Press,1970

Lovejoy,Arthur O. *The Great Chain of Being: A Study of the History of an Idea*. Harvard University Press, 1950

Manes,Chistopher. 'Nature and Silence' in *The Ecocriticism Reader: Landmarks in Literary Ecology* (eds.) Cheryll Glotfelty and Harold Fromm, University of Georgia Press, 1996.

■